International Journal of Applied Research 2018; 4(12): 460-462

ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 8.4
IJAR 2018; 4(12): 460-462
www.allresearchjournal.com
Received: 19-10-2018
Accepted: 17-11-2018

मीरा सिन्हा
शोधर्थी, हिन्दी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार, भारत

Corresponding Author:
मीरा सिन्हा
शोधर्थी, हिन्दी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार, भारत

हिन्दी सिनेमा मे आम आदमी

मीरा सिन्हा

प्रस्तावना

वैसे तो आम आदमी का हर जगह उपस्थिति अनिवार्य है। इसके बिना किसी चीज की कल्पना हीं नही की जा सकती। चाहे वो समाज साहित्य, व्यवसाय, राजनीत, समा, सम्मेलन, आंदोलर आदि–आदि। तो जायज सी बात है कि हिन्दी सिनेमा भी इसके बिना कल्पना से परे है। इस आम आदमी को हम परिनिष्ठत रूप मे जनवाद कहते हैं।

वस्तुतः जनवाद प्राचीन संस्कृत का शब्द है किन्तु आधुनिक युग में यह विशेष विचारधारा का घोतक है। अभिनव जनवाद का आगमन अंग्रेजी शब्द के अनुवाद के रूप में हुआ है और हिन्दी में इसका प्रयोग और प्रचलन अधुनातन है।

जनवाद शब्द का कोश में उपलब्ध अर्थ है, जनरव, जनश्रुति, जनप्रवाद, किवदन्ती, समाचार, अफवाह, लोकनिन्दा इत्यादि। परन्तु जिस विशिष्ट अर्थ में आज जनवाद का प्रयोग किया जाता है वह उपर्युक्त अर्थोंवाले जनवाद शब्द से सर्वथा भिन्न है। साधारण दृष्टि से जनवाद वह वाद है जिसमें जन अथवा जनता अपने महत्व की अनुभूति करती है, जिसमें जनता को महत्व दिया जाता है।

निस्संदेह रूप से यह कहा जा सकता है कि आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त जनवाद शब्द का प्रचलन कुछ समय पहले तक नहीं हुआ था, हिन्दी का पाठक इस शब्द से अपरिचित था। इसका प्रयोग प्रारंभ में अंग्रेजी का समशील शब्द डेमोक्रेसी के साधारण सामाजिक अर्थ के लिए 'जनतावाद' शब्द का प्रयोग किया गया है और फिर आगे चलकर हिन्दी में कतिपय विद्वानों ने 'डेमोक्रेसी' के साधारण सामाजिक अर्थ के लिए जनवाद के ही संक्षिप्त रूप जनवाद का प्रयोग किया है। वास्तविकता यह है कि हिन्दी में जनवाद शब्द के प्रयोग का प्रचलन साम्यवादियों तथा प्रगतिवादियों द्वारा ही किया गया है क्योंकि इसका अधिकांश प्रयो साम्भववादियों की अनूदित तथा मौलिक रचनाओं में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रगतिवादी लेखकों तथा आलोचकों की कृतियों में भी जनवाद का प्रयोग बहुलता के साथ उपलब्ध होता है।

आज जिसे हम जनवाद के नाम से जानते हैं उस जनवाद के समशील कई पाश्चात्य शब्द प्रचलन में हैं। जैसे सोशलिज्म, साम्यवाद। सोशलिज्म ठीक–ठीक परिभाषा में आवद्ध हो सकनेवाला सिद्धांत–समूह नहीं है वरन् एक प्रवृत्ति है। जनवाद का एक और पाश्चात्य शब्द कम्यूनिज्म : साम्यवाद भी है। [1] यह एक आदर्श अथवा विचारधारा तथा विधि भी है। आदर्श की दृष्टि से इसका लक्ष्य एक ऐसे समाज की स्थापना है जिसके अंतर्गत उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर समाज के सामूहिक स्वामित्व के फलस्वरूप विभिन्न वर्गों का अन्त हो जाता है। इस शब्द का प्रचलन बहुत पुराना नहीं है। सन् 1834 तथा 1839 ई. के अंतराल में पेरिस की गुप्त क्रांतिकारी संस्थाओं में यह शब्द गढ़ा गया था। परन्तु 1918 में संचालित सोशलिज्म आंदोलन से लेनिन ने अपना सम्बन्ध विच्छेद करके अपने आपके कम्यूनिस्ट कहना प्रारंभ कर दिया।

हिन्दी में डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने जनवादी शब्द का प्रयोग सोशलिस्ट(समाजवादी) अथवा कम्यूनिस्ट(साम्यवादी) के अर्थ में किया है। इन्होंने ही प्रेमचंद के लिए 'जनवादी मार्क्सवादी' शब्द का प्रयोग किया है। [2]

डॉ. नागेन्द्र ने जनवाद का प्रयोग सर्वहारावाद के पर्याय के रूप में किया है। [3] सर्वहारावाद अंग्रेजी के प्रोलिटेरिएनिज्म अथवा सर्वहारा–समाज के राजनीतिक सिद्धांत तथा उनका व्यवहारान्तर्गत प्रयोग। मार्क्सवादी अथवा समाजवादी दृष्टिकोण से प्रोलिटेरिएट का अभिप्राय उस श्रमिक समुदाय से है जो समूची पूंजी तथा संम्पति का उत्पादक है परंतु स्वयं किसी भी प्रकार की सम्पति का स्वामी नहीं है और जो अपनी जीविका के लिए अपने श्रम का विक्रय करता है।

डॉ. सुधीन्द्र तथा श्री प्रकाशचन्द्र गुप्ता ने जनवाद का प्रयोग जनता की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अन्तश्चेतना को जाग्रत करने वाली विचारधारा के रूप में किया है। [4] यह विचारधारा चिरकाल से शोषित तथा पददलित जनजीवन को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समानता की

प्राप्ति के हेतु प्रबुद्ध अथवा सचेत करती है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने जनवाद का प्रयोग मानव–कल्याण विधायिकी विचार–पद्धति के रूप में भी करते हैं परन्तु मानव से उनका आशय सामान्य जनता से ही है जिसमें कि बुजुर्वा–वर्ग अथवा पूँजीपति वर्ग का समावेश प्रतीत नहीं होता।

कतिपय साम्यवादी लेखकों ने अपनी अनूदित तथा मौलिक प्रचार, पुस्तिकाओं में अंग्रेजी के 'पापुलर' शब्द के अर्थ में जनवादी शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार चीन की नवोदित डेमोक्रेसी को 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' की संज्ञा दी गई है। पीपुल्स शब्द भी पापुलर का ही पर्यायवाची है। साम्यवादी लेखकों ने पीपुल्स शब्द के लिए भी जनवादी शब्द का प्रयोग किया है। [5]

आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी द्वारा व्यवहृत जनवाद शब्द मानवतावाद का पर्याय प्रतीत होता है। अन्यत्र उन्होंने 'जनवादी' शब्द का प्रयोग सामान्य जन–हितैषी के अर्थ में किया है तथा 'मानवतावादी' शब्द का प्रयोग मानव–मात्र हितैषी के अर्थ में किया है। [6] इस प्रकार यहाँ उनके द्वारा प्रयुक्त जनवाद और मानवतावाद सर्वथा पर्याय नहीं वरन् कुछ भिन्न अर्थ रखते हैं। यहाँ मानवतावाद का क्षेत्र जनवाद के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टिगत होता है जिसमें जनवाद का भी समावेश हो जाता है।

जनवाद के उदय में मानववाद अथवा मानवतावाद का भी बहुत बड़ा योगदान है। मानववाद का मूल उद्देश्य मानवमात्र का कल्याण है। नव–वामवादियों के विचारानुसार सब प्रकार के शास्त्रों और विधाओं का प्रधान लक्ष्य मनुष्य को सुखी बनाना उसे सब प्रकार की राजनीतिक और आर्थिक दासता से मुक्त करना और उसे रोग–शोक के चंगुल से छुड़ाना है। मानववाद को मानव में किसी भी प्रकार का भेद सह्य नहीं। इस प्रकार मानववाद ने भी जनवाद के उदय में अत्यधिक योग दिया है। इसके साथ ही जनवाद के उदय में औद्योगिक क्रांति का भी बहुत बड़ा हाथ है। औद्योगिक क्रांति का भी एक बहुत बड़ा हाथ है। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप समाज में आर्थिक वैषम्य व्याप्त होना प्रारम्भ हो गया और शनैः शनैः यह स्थिति आ गई कि समाज का अधिकांश धन पूंजीपतियों के हाथों में पुंजित हो गया और दिन भर पसीना बहानेवाला श्रमिक वर्ग भर पेट भोजन को तथा तन ढ़कने के लिए कपड़ों को तरसने लगा। यह विरोधाभाष ही था जिस कारण श्रमिकों के सुसंघटित दलों अथवा संस्थाओं की स्थापना हुई जिन्होंने आर्थिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष प्रारंभ कर दिया। अतः औद्योगिक क्रांति के कारण जनवाद का विकास हुआ। [7] जनवाद सम्पत्ति अथवा उत्पादन के साधनों पर से वैयक्तिक स्वामित्व का अंत करके समाज के सामूहिक स्वामित्व का समर्थन करता है, जिसे उत्पादन के साधनों का समाजीकरण अथवा राष्ट्र की दृष्टि से राष्ट्रीयकरण कहते हैं। उत्पादन के साधनों का यह समाजीकरण अथवा राष्ट्रीयकरण भी जनवाद का एक प्रमुख तत्व है। [8] जनवाद जन सामान्य की सामूहिक चेतना अथवा साधना का प्रतिपादन करता है। इसके अतिरिक्त जनवाद मानवतावादी दृष्टि के अनुसार इसी मृत्यु लोक में पददलित एवं शोषित समाज को सुखी बनाने का विचार करता है अर्थात जनवाद वह विचार पद्धति है जो बहुसंख्यक पददलित एवं शोषित वर्ग अथवा समाज को अपने भौतिक हितों के सिद्धि के निमित्त राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समानता के अधिकारों की प्राप्ति के हेतु उसकी सामूहिक चेतना को प्रबुद्ध करती है तथा उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक स्वामित्व का अन्त करके समाज के सामूहिक स्वामित्व का समर्थन करती है। [9]

अब बात जब सिनेमा में जनवाद की है तो हम सब जानते हैं कि सिनेमा समाज का दर्पण होता है जो समाज में घटित होता है वह सिनेमा एक व्यवस्थित रूप में हमारे सामने लाता है। हिन्दी सिनेमा का प्रारंभ प्रमाणित रूप से 1913 में राजा हरिश्चन्द्र पर बनी मूक फिल्म से माना जाता है। प्रारंभिक दौर में ज्यादातर धार्मिक फिल्में बनी क्योंकि उस समय नैतिकता और धर्म का बोलवाला था। फिर इसने ऐतिहासिकता की ओर रूख किया इसका यह बदलाव काफी प्रशंसनीय एवं सराहनीय रहा। उस समय आजादी का दौर चल रहा था इसलिए मन में आक्रोश भी था और डर भी फिर भी कुछ साहसिक फिल्मकारों ने अपने मन की अभिव्यक्ति खुल कर की। इसमें हम सत्यजीत राय के नाम बड़े गर्व से ले सकते हैं। सत्यजीत राय जो करना चाहते थे वही उन्होंने किया और जिस बंगाल को वो भली–भाँति जानते थे उसी पर किया। अखिल भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय होने के लिए उन्होंने ऐसी कोई फिल्म नहीं बनाई जो देश भर या सारी दुनिया को लुभाने के लिए हो। उन्होंने यह साबित किया कि कोई अपनी जमीन अपने परिवेश और अपने लोगों को गहराई से जानता हो और जिसमें अपने जाने हुए को ही बहन मानने का आत्म विश्वास हो उसे दुनिया को देखकर नहीं चलना चाहिए। लोकप्रिय लोगों का जन संपर्क और सको खुश रखने की इच्छा उनमें कभी नहीं थी। वे सभी तरह से एलिटिस्ट होने की हमारी अवधारणा को पूरी करते थे। शेष भारत उन्हें एलिटिस्ट मानता भी था। लेकिन बंगाल में वे आम लोगों के सांस्कृतिक जननायक थे। वे जनवादी नहीं थे बल्कि लोकप्रिय मार्क्सवादी कसौटियों पर तो बड़े बुर्जुआ साबित हुए। इन्होंने फिल्म कृतियों का सजीव वर्णन किया है। इनकी पहली फिल्म 1955 में पाथेर–पांचाली थी। ये कहानी अपने पुश्तैनी घर को किसी कीमत पर न छोड़ने के लिए संघर्षरत एक परिवार की कहानी है। यह उस दौर की कहानी है जब देश में जमींदारी प्रथा का बोलबाला था, खासकर बंगाल में। गरीब और छोटा किसान किस तरह हमेशा से ही ऋण से ग्रस्त रहा है और कभी न खत्म होने वाली उसकी परेशानियाँ किस तरह लगातार बढ़ती ही रही है, ये बात इस फिल्म में बहुत गहराई से अनुभव की जा सकती है। इसके अलावा अपराजितो (1956), अपुर संसार (1959), जलसा घर (1958), कंचनजंघा (1962), अभिमान (1962), महानगर (1963), चारुलता (1964), कापुरूष (1965) में औरत के प्रति एक नया बोध दिखाई पड़ता है। सत्यजीत रे तो वैसे भी कुछ समय बाद आए जनवाद ने फिल्मों पर अपना असर मूक सिनेमा के समय से ही डाला है। मूक युग में ही सिनेमा को सामाजिक परिवर्तन की शक्ति के रूप में फिल्मकारों ने अच्छी तरह पहचान लिया था। 1920 से 1930 के बीच एक दशक में ही वर्तमान सभी कलारूपों के बीच एक दशक में ही वर्तमान सभी कलारूपों के बीच इन जादुई छवियों ने अपना सम्मोहन कायम कर लिया था। इन फिल्मकारों ने जनमानस को उद्वेलित करने के लिए सिर्फ सामाजिक अख्यानों को ही नहीं चुना अपितु धार्मिक और ऐतिहासिक कथानकों के द्वारा भी देश–प्रेम और जीवनानुराग का संदेश दिया। [10]

सबसे पहले 1923 में बाबूराव पेंटर ने हरि नारायण आप्टे के उपन्यास– गढ़ आला पण सिंह गेला पर सिंह गढ़ फिल्म बनाई थी। इसमें वी. शांताराम ने भी एक संक्षिप्त भूमिका की थी। 1924 में मणिलाल जोशी ने कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी के उपन्यास पर पृथ्वी वल्लभ, नवल गांधी ने रवीन्द्रनाथ टैगोर की कथा पर बलिदान (1927), नरेश चंद्र मित्र ने शरत चंद्र चट्टोपाध्याय के देवदास(1928), पर इसी नाम से फिल्म बनाई। इन सब में हरि नारायण आप्टे के उपन्यास पर आधारित बाबू राव पेंटर की सावकारी पाश (1925) सबसे महत्त्वपूर्ण फिल्म मानी जाती है।

14 मार्च 193 को आलम आरा के प्रदर्शन के साथ ही बोलती अर्थात् सवाक् फिल्मों का दौर प्रारंभ हुआ अर्थात् सिनेमा की दुनिया में एक नई क्रांति। इसके साथ ही फिल्मों का भाषागत विभाजन हो गया। प्रथम पांच वर्षों में वी. शांताराम सबसे महत्त्वपूर्ण फिल्मकारों के रुप में उभरे। उन्होंने 1934 में एक फिल्म बनाई 'अमृत मंथन' इस फिल्म को देश–विदेश में सराहा गया। ऐतिहासिक–सांस्कृतिक कथा आधार होते हुए भी वस्तुतः यह फिल्म अपने समय के आक्रोश को ही स्वर देती है। इसमें नरबलि और पशुबलि के विरूद्ध सशक्त आवाज उठाई गई थी। अत्याचारी और अमानवीय शासन के विरुद्ध संघर्ष प्रकारांतर से

तत्कालीन समय में भारतीय जनमानस के अंग्रेजों की दमनकारी सत्ता के विरूद्ध आक्रोश के स्वर में भी परिभाषित हो गया था। बाद में शांताराम ने अगले पांच वर्षों में दुनिया न माने, पड़ोसी और आदमी जैसे विलक्षण सामाजिक फिल्मों की त्रयी बनाई। इसमें दुनियां ना माने सबसे अधिक चर्चित हुई थी जो नारायण हरि आप्टे के मराठी उपन्यास 'न पटनारी गोष्ठ' पर आधारित थी। [11]

दुनिया ना माने (1937) हिन्दी सिनेमा में नारी विमर्श की पहली फिल्म है। इसमें शांताराम ने अनमेल विवाह पर तीखी टिप्पणी की थी। सिनेमा को सामाजिक सरोकार से जोड़कर उन्होंने अपनी फिल्मों को कालजयी बना दिया है।

इसके बाद महबूब खान ने 1935 से 1962 तक अनेक कालजयी फिल्मों का निर्माण किया। यद्यपि महबूब खान स्वयं औपचारिक शिक्षा की दृष्टि से शून्य थे किन्तु उनहोंने हमेशा अत्यंत परिष्कृत विषयों पर फिल्मों का निर्माण किया। औरत (1940), रोटी (1942), अनमोल घड़ी (1946), अंदाज (1949), आन (1952), अमर (1954) और मदर इण्डिया(1957) सबसे महत्त्वपूर्ण एवं जनवादी फिल्में हैं। इस बीच सबसे महत्त्वपूर्ण दो फिल्में मास्टर विनायक ने बनाई – ब्रह्मचारी और ब्रांडी की बोतल। ये दोनों राजनीतिक व्यंग फिल्में थी। तत्कालीन समाज में इन दोनों फिल्मों ने उथल–पुथल मचा दी थी।

सोहराव मोदी भी इन्हीं दौर में पुकार और सिकंदर के साथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण फिल्मकार बनकर उभरे। पुकार में जहांगीर की न्याय व्यवस्था के द्वारा भी मानवीय समानता के दृष्टिकोण को दर्शाया गया।

1942 से 1950 के बीच एक बारगी सिनेमा का चेहरा ही बदल दिया क्योंकि इस समय के सिनेमा पर जननाट्य संघ 'इप्टा' का गहरा प्रभाव रहा। ख्वाजा अहमद अब्बास, जिया सरहदी, चेतन आनंद, बलराज साहनी, किशोर साहू, ए. के. हंगल इप्टा कलाकार थे और इन्होंने हिन्दी सिनेमा में नई धारा का सूत्रपात किया और जहां इप्टा कलाकार थे और इन्होंने हिन्दी सिनेमा में नई धारा का सूत्रपात किया और जहां इप्टा है तो वहाँ जनवाद कैसे अछूता रह सकता है।

यही वो समय भी था जब हिन्दी सिनेमा दो भागों में विभक्त हो रहा था – कला सिनेमा और व्यवसायिक सिनेमा। व्यवसायिक सिनेमा इतनी तेजी से अपना पांव फैला रहा था कि कला सिनेमा उसके पांव तले दब कर दम घुट रहा था किन्तु सिनेमा के इस दमघोंटू वातावरण में भी श्याम बेनेगल, विमल राय, गोविंद निहलानी, मृणाल सेन, के. ए. अब्बास, गौतम घोष, केतन मेहता, कुमार शाहनी, एम. एम. सथ्यू, बासू चटर्जी, वासु भट्टाचार्य, मणि कौल, सागर सरहदी तथा अपर्णा सेन जैसे निर्माताओं की उपस्थिति से हिन्दी कला सिनेमा समृद्ध हुआ। हिन्दी दर्शकों के हिस्से में ऐसी फिल्में भी आई जिनसे उनकी सामाजिकता समृद्ध हुई। श्याम बेनेगल की मण्डी और अपर्णा सेन की 'परमा' जैसी फिल्में स्त्री शोषण, उत्पीड़न और विद्रोह पर आधारित है। इन फिल्मकारों की आक्रोश, भुवन सोम, अर्द्धसत्य, आघात, दामुल, परिणति, गर्म हवा, सूखा, पार, मंथन, अंकुर, निशांत, सारा आकाश, रजनी गंधा, दुविधा, माया दर्पण, अनुभव आदि फिल्मों ने समाज को बेहतर संदेश देने का जोखिम उठाया।

लेकिन सिनेमा ने धीरे–धीरे कला का दामन छोड़ डाला है और व्यावसाय को अपना हमसफर बना लिया है और जाहिर सी बात है कि जो सिनेमा व्यवसायिक है उसमें जनवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद का स्थान शून्य है। इसलिए हमारा मन आज भी छटपटाता है, हम आज भी कुछ कहने को तड़प उठते हैं। ऐसा लगता है कि चीख–चीख कर दुनियां से ये कहें कि जो तुम सिनेमा में दिखा रहे हो वह पूर्ण सत्य नहीं है सत्य तो कुछ और है जिसे तुम अनदेखा कर रहे हो। मगर हमारी बात सुननेवाला कोई नहीं है, कोई नहीं समझता हमारी इस तड़प को। लेकिन हम यह आज बड़े गर्व के साथ कहते हैं कि कुछ आँखें हैं जो हमारी आज की छटपटाहट को देख रही है और वह भी हमारी तरह तड़प रही हैं। समाज के सामने सत्य को लाने के लिए ऐसे ही लोगों में नाम आता है गोविंद निहलानी का। इन्होंने बतौर निर्देशक अपनी पहली फिल्म बनाई 'आक्रोश'। इसे 1981 के नई दिल्ली फिल्म महोत्सव में पुरस्कृत भी किया गया। उसके बाद विजेता और तीसरी फिल्म बनाई 'अर्धसत्य'। यह मुम्बई में प्रदर्शित होकर चर्चा और विवाद में घिर गई। आक्रोश में न्याय व्यवस्था की तीखी आलोचना थी तो अर्धसत्य में पुलिस की जिंदगी का ऐसा चित्रण है, जो इससे पहले भारतीय सिनेमा में इतनी सच्चाई और संवेदना के साथ कभी नहीं दिखाई पड़ा था। इन दोनों फिल्म में जाने–माने नाटककार विजय तेंदुलकर की पटकथा थी।

इन सब की चर्चा में हम नवउदित निर्माता निर्देशक प्रकाश झा को नहीं भूल सकते। दामुल और हिप हिप हुर्रे जैसी फिल्मों से इन्होंने अपने फिल्मी करियर की शुरूआत की। इन्होंने व्यवसायिकता को नजर में रखते हुए जनवादी सिनेमा का निर्माण किया। इनका इन दो विरोधी विचारधारा में सामंजस्य बिठाना बड़ा ही अद्भूत प्रतिभा का द्योतक है। इन्होंने समाज को राजनीति, अपहरण, गंगाजल, मृत्युदण्ड जैसी जनवादी, सशक्त फिल्में दी है।

परंतु अफसोस की आज का दौर ऐसा होता जा रहा है कि प्रकाश झा जैसे सामाजिक एवं राजनीतिक मुद्दों पर आधारित फिल्म निर्देशक यह कहता है कि इस देश में पूरी तरह से राजनीतिक एवं सामाजिक आधार पर फिल्म बनाना असंभव है, क्योंकि यहाँ अभिव्यक्ति की आजादी नहीं है। जो आप समाज से कहना चाहते हैं वो संभव नहीं है और हम यह उम्मीद नहीं कर सकते कि इसमें बदलाव होगा।

हम आज के सिनेमा मे ग्लैमर की मांग है, स्टण्ड होने चाहिए। सिनेमा से मानो पारिवारिक कहानी, सामाजिक , सांस्कृतिक कथानक लगभग समाप्त होते जा रहे है, और अगर कुछ ऐसी फिल्मे बनती भी है तो वो दर्शको द्वारा नापसंद कर दी जाती है यूही वजह है कि हम समाज की वास्तविक स्थिति, घटना, त्रास्दी से परे एक अलग हो दुनियां मे घुमते है जो कल्पना की दुनियां है। हमे समाज पर दोषारोपण करना तो आ जाता है, मगर वास्तिक कभी क्या है समाज की हमे नही पता होता, और ना हीं कभी हम उसके निदान के विषय में सोचते है। एक आम आदमी सिनेमा के बाहर भी पिटता है और सिनेमा के अंदर भी।

संदर्भ सूची

1. जनवाद और प्राचीन भारत – डॉ० राम सिंह चौहान, पृ० 26
2. जनवाद और प्राचीन भारत – डॉ० राम सिंह चौहान, पृ० 32
3. जनवाद और प्राचीन भारत – डॉ० राम सिंह चौहान, पृ० 32
4. जनवाद और प्राचीन भारत – डॉ० राम सिंह चौहान, पृ० 33
5. जनवाद और प्राचीन भारत – डॉ० राम सिंह चौहान, पृ० 34
6. जनवाद और प्राचीन भारत – डॉ० राम सिंह चौहान, पृ० 36
7. जनवाद और प्राचीन भारत – डॉ० राम सिंह चौहान, पृ० 39
8. जनवाद और प्राचीन भारत – डॉ० राम सिंह चौहान, पृ० 41
9. जनवाद और प्राचीन भारत – डॉ० राम सिंह चौहान, पृ० 43
10. हिन्दी सिनेमा की यात्रा– पंकज शर्मा, पृ0 43
11. हिन्दी सिनेमा की यात्रा– पंकज शर्मा, पृ0 45